भारतीय मूर्तिकला-उद्भव एवं विकास (प्रागैतिहासिक से गुप्तकाल पर्यन्त)

डॉ. पंकज पाण्डेय
एसो.प्रो. इतिहास विभाग
श.दु.म.रा.स्ना.महा. डोईवाला, देहरादून।

प्रस्तावना: भारतीय कला और संस्कृति की जडें प्राचीन काल में निहित हैं और भारतीय मूर्तिकला इस समृद्ध सांस्कृतिक धारा का अंग रही है। भारतीय मूर्तिकला न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का माध्यम रही है बल्कि वह समाज ,दर्शन और जीवन के विविध पहलुओं को भी प्रकट करती हैं। मूर्तिकला के माध्यम से भारतीय समाज ने अपने विचारों ,आदर्शो और विश्वासों को शाश्वत रूपों में प्रस्तुत किया हैं। इस शोध पत्र में हम भारतीय मूर्तिकला के उद्भव , विकास और उसकी प्रमुख विशेषताओं की चर्चा करेंगे।

बीज शब्द: प्रतिमा विज्ञान, भारतीय पूजा परंपरा, गांधार शैली , मथुरा शैली।

भारत की मूर्तिकला भारतीय संस्कृति की एक अनुपम देन है। प्रतीकोपासना, जिसके गर्भ से प्रतिमा-पूजा का जन्म हुआ उनती ही प्राचीन है जितनी मानव सभ्यता, यह मानवता की सदैव सहचरी रही है, बिना इसके मानवता एक क्षण के लिए भी उच्छवास न ले सकी। इसीलिए व्यापक सांस्कृतिक दृष्टि से यह मानना अनुचित न होगा कि उपासना की यह परम्परा सिन्धु सभ्यता से भी प्राचीनतम् युग प्रागेतिहासिक काल में भी विद्यमान थी।

वस्तुतः प्रतिमा-विज्ञान वास्तु-विद्या का एक अभिन्न अंग है। मन्दिर-वास्तु की रचना का एक मात्र उद्देश्य ही उसमें प्रतिमा की प्रतिष्ठा है। प्रतिमा-पूजा और प्रतिमा निर्माण भारत में देवपूजा के प्रतिफल हैं। देवपूजा विधि को जाने बिना मूर्ति-शिल्प का रहस्य हृदयगम नहीं हो सकता, देवपूजा की सरलतम विधि 'अन्यवती' उपासना रही है। इसमें मन-स्थैर्य के लिए दृष्टि प्रतिकृति (प्रतीक) पर होती है और बुद्धि प्रतिमेय (उपास्य) पर। प्रतिकृति में प्रतिमेय की यह भावना अन्यवती उपासना है, जो मूर्ति निर्माण का मूल कारण है। ज्ञातव्य है कि प्रतीक या प्रतिमा स्वयं देवता नहीं है। यह साधक के लिए एक माध्यम और योग सिद्वि के लिए एक साधन मात्र है। मूर्तिकार ध्यानशील होकर ऋषियों और साधकों द्वारा परिकल्पित ध्यान-मन्त्रों का ही प्रतिमा में उपस्थापन करता है।

सगुण-साकार वस्तु की पूजा के लिए अन्यवती उपासना है, परन्तु निराकार की प्रतिकृति अशक्य होने से उसकी पूजा हेतु 'निदानवती' उपासना का आश्रय लिया गया है। संकेत का ही नाम 'निदान' है। इसमें गुणक्रियानुसारेण क्रियते रूपकल्पना के अनुसार मूर्ति-कल्पना की गई है। यथा 'पदम' पृथ्वी का और 'गज' लक्ष्मी का निदान है। निगम और आगम में सर्वत्र 'निदानविद्या' का व्यवहार पाते हैं उसे दार्शनिक भाषा में- 'आहार्यारोपविद्या' कहा गया है। इस प्रकार अमूर्त की मूर्ति-कल्पना निदानवती उपासना से हुई है। देवप्रतिमाओं से संबद्ध समस्त संकेत वा प्रतीकवाद, 'मुद्राएँ' भी कहलाती हैं। प्रतिमा-ज्ञान के लिए यह जानना भी समीचीन है कि भारत में प्रतीकवाद, उसकी संस्कृति एवं दर्शन का मूल तत्व है, धर्म कला और प्रतीकवाद तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। भारतीय धर्ममूलक, कला आध्यात्मिक योग का अपरिहार्य फल है। अतएवं 'सर्वलक्षणसम्पन्न' प्रतिमा ही पूज्य है। यहां प्रासाद-वास्तु और देवप्रतिमाओं की भूषा और शान्ति के लिए जो प्राकृतिक व काल्पनिक अभिप्राय प्रयुक्त हैं, उन्हें अलंकार कहा गया है, अलंकारों का प्रयोजन सौन्दर्यवर्धन एवं मांगल्य दोनों है, ये कला को 'गहनतर' दार्शनिक अर्थ प्रदान करते हैं। सिंह, वृषभ, गज, व्यजन, कलश, वैजयंती, भेरी और दीप ये अष्टमंगल माने गये हैं। इनके अतिरिक्त मांगल्यविहग, श्रीवृक्ष, स्वास्तिक, घट, मिथुन पल्लवल्ली और प्रमंश भी अलंकार हैं, जिनके द्वारा द्वारभूषा करने का आदेश है। इसी प्रकार त्रिरत्न शंख चक्र पद्म कीर्तिमुख आदि नाना मांगलिक प्रतीक हैं।

प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता के उद्भव एवं विकास की समीक्षा प्रायः साहित्यिक प्रमाण पर ही आधारित है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, ब्राहमण, आरण्यक, उपनिषद, वेदांग, सूत्र, साहित्य, रामायण, महाभारत, स्मृति साहित्य, जैन, बौद्ध एवं प्राचीन व्याकरण साहित्य तथा अर्थशास्त्र आदि के परिशीलन से हमें मानव-सभ्यता की इस प्राचीनता के स्पष्ट प्रमाणों की उपलब्धि होने लगती है। यद्यपि विद्वानों में प्रतिमा-पूजा की प्राचीनता पर बड़ा विवाद है, किन्तु सांस्कृतिक मीमांसा से यह समझने में देर लगेगी कि प्रतिमा-पूजा तथा प्रतीकोपासना मानव-सभ्यता में तो क्या आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार मानव की असभ्यता तथा अर्धसभ्यता की दशा में भी विद्यमान रही है। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि प्रागैतिहासिक युग में धर्म-अनुष्ठान और अन्धविश्वासों की भावनाओं का बीजारोपण हो चुका था। इस युग के मनुष्य वृक्षों और चट्टानों में दैवी-शक्ति या देवता का निवास समझने लगे थे। इस प्रकार भारतीय मूर्तिकला का उद्भव आदि मानव के विकास के साथ ही हुआ।

भारत की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष सिन्धु-घाटी से प्राप्त हुए हैं। अस्तु प्रामाणिक रूप से भारत में मूर्तिकला का इतिहास सैंधव्य सभ्यता से प्रारम्भ होता है। इस सभ्यता के उत्खनन से मूर्तिकला के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनमें सुन्दरता, नवीनता और गतिशीलता देखने को मिलती है, जो कालान्तर में मूर्तिकला की एक विशिष्टता बन गई। ऐतिहासिक क्रम में सिन्धु-घाटी की सभ्यता के बाद आर्य सभ्यता का आगमन भारतीय इतिहास में होता है। आर्यों के आदि ग्रन्थ ऋग्वेद में मूर्तिकला के कुछ प्रमाण अवश्य मिलते हैं। तदन्तर मूर्तिकला का विकास किसी न किसी रूप में परिलक्षित होता है। पतन्जलि ने मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है, कौटिल्य-अर्थशास्त्र में भी मूर्तियों का उल्लेख मिलता है रामायण तथा महाभारत में मूर्तियों का उल्लेख है, सैंधव्य सभ्यता की कलात्मक मूर्तियों के पश्चात हमें जो कलात्मक मूर्तियां मिलती है, वे मौर्यकालीन हैं।

आर्यों के भारत में प्रवेश करने से पूर्व ही सिन्ध प्रदेश में बहुदेवतावाद प्रचलित था कई देवी-देवताओं की पूजा की जाती थी। सैंधव्य सभ्यता के लोग मूर्ति-कला में भी कुशल थे। तत्कालीन मिट्टी की अनेक मूर्तियां उपलब्धे हुई हैं उनकी मूर्तिकला की चार शैलियां थी। 1- पाषाण को तरासकर, 2-धातुओं को ढालकर 3- ठप्पा लगाकर 4- हाथ से मिट्टी की मूर्तियां बनाकर उन्हें अग्नि में पकाकर। इन सभी शैलियों में अद्भुत कौशल था। मूर्तियां दो प्रकार की होती थी- प्रथम धार्मिक महत्व वाली मूर्तियां यथा देवी-देवताओं उपासिकाओं, नर्तकियों, बलि-पशुओं आदि की मूर्तिया। द्वितीय साधारण महत्व की मूर्तियां यथा स्त्री-पुरूष पशु- पक्षी आदि की मूर्तियां। मुअन-जो-दड़ों में मिट्टी की बनी हुई अनेक मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जो नर्तकियों की है। किन्तु यहां कांसे की एक नर्तकी की जो मूर्ति प्राप्त हुई है, वह उनकी श्रेष्ठ धातु

कला एवं मूर्ति कला का ज्वलन्त उदाहरण है। तत्कालीन खड़िया पत्थर की बनी हुई योगी की मूर्ति भी कला की दृष्टि से अद्वितीय है। इस मूर्ति में ध्यानावस्थित योगी के आंगिक विन्यास, उसके वस्त्र अलंकरण आदि का यथार्थ प्रदर्शन हुआ है। इसके साथ हड़प्पा से प्राप्त पाषाण मूर्तियां अत्यधिक सजीव और सौन्दर्यमयी हैं। इनमें लाल पाषाण की पुरुष-मूर्ति का धड़-भाग उत्कृष्ट है। इसमें मानव की आकृति का लक्षण अपूर्व कुशलता से किया गया है।

भूरे पत्थर की बनी हुई नर्तकी की एक अन्य मूर्ति भी हड़प्पा से प्राप्त हुई है। इसके हाथ, पैर, सिर आदि धातु-खूंटियों से जोड़े गये हैं ये मूर्तियां यह सिद्ध करती हैं कि पाषाण को काटने, तराशने, छीलने उसकी पच्चीकारी करने और उस पर पालिश करने में सैंधव्य कलाकारों ने दक्षता प्राप्त कर ली थी। इसके साथ ही सैंधव्य सभ्यता के लोग अपने उपास्य देवी-देवताओं की मूर्तियां बनाकर उन्हें पूजते थे। ऐसी बहुसंख्यक लघु मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं। यह ईश्वर की साकार उपासना थी। उनकी इस मूर्ति पूजा और साकार उपासना का प्रचलन हिन्दू-धर्म की सभी शाखाओं और उपशाखाओं में आज भी विद्यमान है।

भारतीय पूजा-परम्परा या उपासना-पद्धति के विभिन्न सोपानों पर दृष्टिपात करने से अनायास ही भारतीय धर्म-हिन्दू, जैन, बौद्ध के व्यापक रूप के साथ-साथ हिन्दू-धर्म के भीतर वैदिक, स्मार्त एवं पौराणिक प्रतिरूपों के अतिरिक्त शैव, वैष्णव एवं शाक्त आदि अवान्तर रूपों, सम्प्रदायों, मतों तथा मतान्तरों की चर्चा किसी न किसी प्रकार प्रासंगिक बन जाती है। इन सभी में प्रतिमा-पूजा का मूल अर्थ तो देव-विशेष, व्यक्ति-विशेष अथवा पदार्थ विशेष की प्रतिकृति, बिम्ब मूर्ति अथवा आकृति-सभी का बोधक है। किन्तु यहां पर प्रतिमा का तात्पर्य भक्ति-भावना से भावित देव विशेष की मूर्ति अथवा देवभावना से अनुप्राणित पदार्थ-विशेष की प्रतिकृति ही है। मूर्ति-पूजा में 'प्रतिमा' कलात्मक प्रियता की मानवीय भावना का वह प्रकट मूर्त स्वरूप है जिसके द्वारा इस देश के मानव ने अदृष्ट शक्ति की कल्पना एवम् उसकी उपासना की प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से चेष्टा की है। विभिन्न युगों में यह चेष्टा एक सी नहीं रही है। पुरातन से पुरातन संस्कृतियों एवं जातियों में किसी न किसी प्रकार से इस चेष्टा के दर्शन होते हैं। इस प्रकार उपासना या उपसना-पद्धति के गर्भ से देवपूजा एवं देव-प्रतिमा निर्माण का जन्म हुआ।

पूर्व वैदिक-कालीन आर्यों ने धार्मिक जीवन के केन्द्र-बिन्दु एवं प्रकृति के प्रमुख पदार्थों को देवों और देवियों के प्रतीक रूप में प्रकल्पित कर स्तुति-गायन के द्वारा उनमें देव-भावना का संचार किया। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं को देवों की उपासना में प्रतिमा-विज्ञान के आदि रूप को देखा जा सकता है। ऋग्वेद में 'शिश्न-देवोः और 'मूरदेवाः इन दो शब्दों को भी मूर्ति पूजा का द्योतक माना गया है। लिंग-पूजा की पोषक सामग्री भी ऋग्वेद में प्राप्त होती है। 'वैदिक-इन्डैक्स में शिश्न-देव से लिंगोपासकों का ही संकेत ग्रहण किया गया है। सिंधु-सभ्यता में लिंगोपासकों की प्राचीन परम्परा पहले ही सिद्ध हो चुकी है।

यजुर्वेद, ब्राहमण, आरण्यक, उपनिषद, वेदांग, सूत्र-साहित्य के परिशीलन से उत्तर वैदिक काल में प्रतिमा-पूजा के मजबूत प्रमाण प्राप्त होते हैं। तैत्तिरीम ब्राहमण (2. 6. 17) में स्वर्णमयी सुन्दर तीन देवियां - भारती, ईड़ा तथ सरस्वती की पूजा के लिए होता, पुरोहित के आज्ञार्थ प्रवचन हैं। वैदिक खिलों में भी प्रतिमा-पूजा पर सुदृढ सामग्री प्राप्त होती है। षडविंश ब्राहमण के देवतायतनानि कम्यन्ते देवप्रतिमा हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्ति उम्मीलयन्ति' से तत्कालीन देवप्रतिमा पर अकाट्य प्रमाण प्राप्त होता है। पंचविंश ब्राहमण (23.18.1) में 'देवमलीमुच (देवप्रतिमाओं के चुराने वाले) शब्द के प्रयोग से भी यही सिद्ध होता है। ऐतरेय तथा शतपथ ब्राहमण में सोने की प्रतिमा का संकेत है। शतपथ में तो इष्टका पर रात्रि-प्रतिमा तथा काल-प्रतिमा की रचना का भी उल्लेख है। शांखायन ब्राहमण में ऐसे ही विपुल संकेत है। कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राहमण में मूर्ति-निर्माता 'त्वष्टा' का भी उल्लेख है। इसी प्रकार आरण्यक तथा सूत्रग्रन्थों में देवता, देवतायन (मंदिर) एवं देवप्रतिमा-पूजा के अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थों में विष्णु, रुद्र (शिव), दुर्गा, लक्ष्मी, सूर्य, गणेश तथा यम की पूजा के साथ ही साथ प्रतिमा-निकेतन (देवालयों) की भी प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है, देवगृह, देवतायन, देवकुल शब्दों से इन देवालयों का प्रमाण सिद्ध होता है ।आपस्तम्ब गृहयसूत्र प्रतिमा पूजा पर पूर्णरूप से विवेचन करता है। इसकी प्रकार उपनिषद भी आर्य-द्राविड-मिश्रित संस्कृतियों को ही पोषक रही है।

भारतीय मूर्तिकला के विकास में भारतीय पुराण-शास्त्र का भी सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। विभिन्न देवों के नाना रूपों की उद्भावना पुराणों ने ही प्रदान की है। पुराणों के अवतारवाद एवं बहुदेवतावाद का स्थापत्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। देव-विशेष के पौराणिक नाना रूप स्थापत्य की नाना मूर्तियों को जन्म देने में सहायक हुए। वैदिक युग में प्रचलित प्रकृति-पूजा अब लुप्तप्रायः हो चुकी थी उनका स्थान ब्रहमा, विष्णु, शिव, गणेश, पार्वती, दुर्गा आदि देवी-देवताओं ने ले लिया था। वैदिक काल के देवताओं में अब केवल ब्रह्मा और रुद्र की पूजा होती थी। विष्णु के दशअवतारों की धारणा लोकप्रिय हो गई थी, राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार मानकर उनकी पूजा और आराधना की जाने लगी थी। मनुस्मृति आदि स्मृति ग्रंथों तथा प्राचीन व्याकरण साहित्य-पाणिनी की अष्टाध्यायी तथा पतंजलि के महाभाष्य के परिशीलन से भी प्रतिमा-पूजा के विकास पर प्रकाश पड़ता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों (4.3.98 तथा 5.3. 99) से स्पष्ट है कि ईसा से लगभग 800 वर्ष पूर्व इस देश में प्रतिमा पूजा पूर्ण-प्रतिष्ठा को प्राप्त हो चकी थी । कौटिल्य के अर्थशास्त्र (300 ई0पू0) में देव-प्रतिमा पूजा एवं देवस्थानों के संकेत बिखरे पड़े हैं। इससे सूचित होता है कि देवप्रतिमा-प्रतिष्ठा का वह एक अति सु-प्रतिष्ठित एवं सुविकसित समय था। तत्कालीन देव प्रतिमाओं की प्रकल्पना में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विनी कुमार आदि देवों तथा श्री और मदिरा इन दो देवियों का उल्लेख पाया जाता है। मदिरा का तात्पर्य भगवती दुर्गा है (दुर्गा-अम्बिका के अनेक नामों में मदिरा भी एक है)।

भारतीय इतिहास में मौर्यकाल का आरम्भ 323 ई0पू0 से और अन्त 184 ई0पू0 में निश्चित है। इस काल के शासकों में चन्द्रगुप्त, बिन्दुसार तथा अशोक उल्लेखनीय हैं। यह युग भारतीय कलाओं के विकास की एक उज्ज्वल दीर्घा है। इस समय कला के लोकाश्रयी तथा राज्याश्रयी दो भाग मिलते हैं। कला की ये दोनों धारायें आगे चलकर एक हो जाती हैं। इसके संगम से भारतीय कला को एक नया आयाम मिला, जो परवर्ती कालों में विकसित होकर गुप्तकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। मौर्यकाल में वास्तु तथा मूर्तिकला दोनों ही अत्यन्त विकसित थे, चन्द्रगुप्त का पौत्र अशोक इस काल का सबसे बड़ा उन्नायक माना गया है। उसने पर्वतों, शिला-फलकों तथा लाटों पर जो नाना शिलालेख खुदवाये उनसे सभी परिचित हैं। वास्तव में अशोक एक लोकोत्तरचेता महामानव था, उसके महान स्तम्भ ही उस काल की मूर्तिकला के सार हैं और संसार की उच्च कृतियों में उनका स्थान है। मौर्यकाल में मनुष्यों, यक्ष-यक्षणियों गंधर्वों देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों की प्रतिमायें बनायी जाती थी। इन मूर्तियों के अतिरिक्त जैन तीर्थंकरों की उच्चकोटि की संजीव मूर्तियां भी मौर्य युग की विशेषता है ये अशोक के पौत्र के शासनकाल की है।

मौर्यकालीन मूर्तिकला के विशिष्ट अवलम्ब अशोक के प्राचीनतम 13 स्तम्भ उपलब्ध हैं जो दिल्ली, कौशाम्बी, इलाहाबाद, सारनाथ, मुज्जफरपुर, लौरियानन्दगढ़ रामपुरवा (चम्पारण) रुम्मिनदेई (लुम्बिनी) तथा सांची में विद्यमान हैं। इन सभी स्तम्भों को अशोक की लाटों के नाम से पुकारा जाता है। इन स्तम्भों के लाट गोल और नीचे से ऊपर तक चढ़ाव उतारदार हैं। इन लाटों पर बने 'परगहे' जो पत्थर के हैं, कोरकर बनाई गई मूर्तिकला के सुन्दर नमूने हैं। परगहे के सिर पर जिन पशु-चिन्हों का निर्देश है, उनमें सिंह, हाथी, बैल, अथवा घोड़ा होते थे और पशु मूर्ति अथवा वाहन मूर्ति का इनमें बड़ा सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है। इनकी तुलना अत्यन्त दुर्लभ है। पटना के समीप 'दीदारगंज'से उपलब्ध 'चामरग्रहिणी' की मूर्ति अशोक कालीन मूर्तिकला का अद्वितीय उदाहरण है। वास्तव में लोकधर्मी मूर्तियां तीसरी तथा दूसरी सदी ई0पू0 की है। लोकाश्रयी कला वह कला थी जिसे जन सामान्य का आश्रय प्राप्त था, इस लोकाश्रयी कला की परम्परा पूर्व युगों से काष्ठ और मिट्टी पर चली आ रही थी और अब उसे पाषाण के माध्यम से व्यक्त किया जाने लगा था कालान्तर में इसी कला में भारतीय मूर्ति कला के नवीन आदर्शों को स्थापित किया। अशोक के स्तम्भों की कारीगरी में 'जन' अभिप्रायों के दर्शन होते हैं। जैसे पंखदार सिंह, पंखदार वृषभ, नर मकर ,नर अश्व ,मेष, मकर, गज-मकर, वृष मकर ,सिंह-नारी गरुड-सिंह तथा मनुष्य के धड़ वाले पक्षी आदि के साथ-साथ घर से निकला 'सनाल कमल' यह अन्तिम अभिप्राय भारतीय मूर्ति-स्थापत्य का एक सनातन अंग है जो गुप्त काल में घट-पल्लव में परिवर्तित होकर तत्कालीन वास्तु एवं मूर्ति की सजीव प्रतिमा बन गया।

मौर्य कालोपरान्त शुंगों का शासन शुरू हुआ, जिन्होंने 184 से 72 ई0पू0 तक शासन किया। इस युग की मूर्तिकला में सामयिक 'लालित्यभाव', धर्म के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। इस युग की कला एक ऐसे वृक्ष के समान है जिसकी शाखायें स्वतन्त्र कला शैली के रूप में क्रमिक विकास करते हैं।

शुंग ब्राहमण थे, ब्राहमण धर्म का उनके समय में विशेष उत्कर्ष हुआ। शुंगों के समय में मनु-स्मृति, महाभाष्य आदि उच्चकोटि के ग्रंथ लिखे गये। ब्राहमण सम्प्रदाय में उस समय मूर्ति-पूजा पूर्ण प्रतिष्ठित हो चुकी थी। इस युग का एक पंचमुख शिवलिंग 'भीटा' में पाया गया है। दक्षिण के गुडिमल्लम् नामक स्थान में इस लिंग की बड़ी कीर्ति है। शुंग-काल की असंख्य मृण्मूर्तियां भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक पायी जाती हैं।

शुंग कालोंपरान्त, कुषाण वंश (50 से 300 ई0) के शासकों ने भारतीय धरा पर कला को प्रोत्साहन दिया। वे कला मर्मज्ञ और कला प्रेमी भी थे। इनमें कनिष्क (78 ई0) का नाम स्वर्णाक्षरों मे लिखे जाने योग्य है। उसकी प्रारम्भिक मुद्राओं पर यूनानी देवताओं सूर्य (हेलिओज) और चन्द्र (मयो) के चित्र अंकित हैं। कुषाण युग में विकसित गान्धार कला भारतीय संस्कृति को कुषाणों की ही महान देन है। इस काल का प्रमुख केन्द्र उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त में गान्धार प्रदेश और कुषाणों की राजधानी 'पुरुषपुर' थी। अफगानिस्तान में जलालाबाद स्वातघाटी हड्डेडा, पेशावर जिले में 'दामियात' तथा 'तक्षशिला' में गान्धार शैली के भव्य स्मारक और अवशेष प्राप्त हुए हैं, इनमें बुद्ध और बोधिसत्वों की अनेकानेक मूर्तियां तथा स्तूप हैं। यवन प्रभाव होते हुए भी इन मूर्तियों पर भारतीय आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। गान्धार शैली की अनेक मूर्तियां काले सलेटी पत्थर की भी हैं कुषाण युग में मथुरा भी एक प्रमुख कला केन्द्र था।

185-320 ई0 के मध्य मथुरा दोआब और उत्तर-पश्चिमी मध्यभाग में और भारशिव वाकाटकों का शासन था, इनके आश्रय में 'नागकला' तथा 'नागरकला' दोनों का सुन्दर विकास हुआ। इस कला में अण्डाकृति चेहरे की निर्माण पद्धति के साथ-साथ गंगा-यमुना के नदी चित्रों की रचना विशेष उल्लेख्य है। इस काल की मूर्तियों में शिवलिंग तथा शिवायतन विशेष प्रसिद्ध हैं।

तीसरी सदी ई0 के अन्त में उत्तरी भारत में गुप्तों का उत्कर्ष शुरू हुआ, जिन्होंने छटी सदी ई0 तक शासन किया। यह भारतीय मूर्तिकला का स्वर्णिम काल था। गुप्तकला की विशेषता सौन्दर्याभिव्यक्ति है। इस युग से पूर्व की कला में वह सजीवता न थी, जो गुप्तयुग में मिलती है। इस कला के दो मुख्य अंग उल्लेखनीय हैं- 1- मूर्तिकला 2- उकेरी गई कला इसमें मूर्ति-कला प्रमुख है जिनके तीन प्रभेद इस युग में मिलते हैं- प्रस्तर मूर्तिकला, धातु मूर्तिकला और मृण्मयी मूर्तिकला। ये मूर्तियां प्रायः ब्राहमण जैन तथा बौद्ध धर्मों से सम्बन्धित मिली हैं। गुप्तकाल में मथुरा, सारनाथ, पाटलिपुत्र मूर्तिकला के प्रमुख केन्द्र थे। बुद्ध-मूर्तियों में सारनाथ की बुद्ध मूर्ति, ब्राहमण मूर्तियों में उदयगिरी विदिशा, मध्य प्रदेश में वाराह की मूर्ति प्रमुख हैं। अन्य मूर्तियों में गोवर्धनधारी कृष्ण, कार्तिकेय तथा सूर्य को मूर्तियों के अतिरिक्त जो मूर्ति भारतीय कला और पुराण की सर्वप्रमुख अभिव्यंजना करती है वह देवगढ़ (ललितपुर, जिला झांसी) में गुप्त मन्दिर के एक अवशेष में विराजमान हैं। शेषशायी नारायण की सुन्दर मूर्ति यहां देखने को मिलेगी। यह चित्रण मन्दिर की बाह्य भित्ति पर है। गुप्त युग में कला के अनेक केन्द्र विकसित हुए, जिनमें मथुरा, सारनाथ, पाटलिपुत्र, विन्ध्य व मालवा शैलियां उल्लेखनीय हैं। सर्वाधिक मूर्तियां सारनाथ शैली में निर्मित हुई हैं। सारनाथ की पदमासनासीन धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में प्राप्त बुद्ध-मूर्ति भाव -भंगिमा के कारण अनुपम है। मूर्ति के दक्षिणावर्त केश तथा उष्णीष व मस्तक के चारों ओर अलंकृत प्रभामण्डल प्रभावशाली हैं। प्रस्तर एवं धातु के साथ ही इस काल में मृण्मयी मूर्तियों का भी बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। इन मृण्मयी मूर्तियों में विष्णु, सूर्य, दुर्गा उल्लेखनीय हैं। इनमें नारी-मूर्तियां बड़ी लुभावनी हैं। गुप्तों के स्वर्ण-सिक्के भी मूर्तिकला के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। इन सिक्कों पर समुद्रगुप्त का वीणा-वादन, चन्द्रगुप्त का आखेट तथा स्वामी कार्तिकेय वाले सिक्कों पर की गई आकृतियां बहुत ही सजीव एवं कलापूर्ण हैं।

वस्तुतः मूर्तिकला के उद्भव एवं विकास विषयक इस अध्ययन की अनुशंसा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय प्रतिमा-विज्ञान की आधार-शिला का निर्माण पूजा-परम्परा अथवा ध्यान-परम्परा रही है। प्रतिमा-विज्ञान स्वयं एक प्रयोजन न होकर प्रयोज्य मात्र है। प्रयोजन तो प्रतिमा पूजा है। भारतवर्ष की धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में मूर्ति-पूजा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। प्रतिमा-पूजा ने ही निर्गुण एवं निराकार ब्रहम के चिन्तक अद्वैतवादियों तथा सगुण और साकार ब्रहम के उद्भावक भक्तों, दोनों के दृष्टिकोण में समन्वयात्मक सामंजस्य स्थापित किया है। कला की इस महान परम्परा का प्रागैतिहासिक युग से लेकर गुप्तकाल पर्यन्त तक की विशाल परंपरा है। विभिन्न प्राप्त एवं अर्धप्राप्त प्रतिमा-स्मारक-निदर्शन इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

****

सन्दर्भ :

I. Bhattacharya N.N. ,History of Indian Art page 15-16
II. Aziz K.K. Indian Architecture & Sculpture ,page 56-57
III. Kramrisch H.A. The Art of India page 67-69
IV. Basham A.L. , Buddhist Art in India , page 45,96
V. Nilkanta Shashtri K.A, The Chola Temples page 56
VI. Aziz K.K. Indian Architecture & Sculpture ,page 151
VII. Basham A.L. , Buddhist Art in India , page 103.
VIII. Bhattacharya N.N. ,History of Indian Art page 53
IX. Nilkanta Shashtri K.A, The Chola Temples page122
X. Kramrisch H.A. The Art of India page 99
XI. तैतरीय ब्राह्मण 2-6-2
XII. पंचविंश ब्राह्मण 23.18.1.
XIII. अष्टाध्यायी ,पाणिनी 4-3-98 तथा 5-3-99
XIV. Basham A.L. , Buddhist Art in India , page 156.